DEV SANSKRITI: Interdisciplinary International Journal **(2015), 5, 01-06**

श्रीराम शर्मा आचार्य के विचारों में आदर्श नेतृत्व की अवधारणा का अध्ययन

कृष्णा झरे एवं मेघा पाल

सारांश

एक कुशल एवं आदर्श नेतृत्व की जरूरत विभिन्न क्षेत्रों में है। आज समय की मांग आंदोलनकारी नेताओं की नहीं, बल्कि ऐसे लोकशिक्षकों के नेतृत्व की है जो जनमानस में जागरण का आलोक उत्पन्न करने का अनवरत् प्रयत्न करने में अथक रूप से लगे रहें। आक्रोश में तोड़–फोड़ हो सकती है व आंदोलन व आवेश विक्षोभ पैदा करते हैं। ऐसे में सृजन संभव नहीं। सृजन के लिए सघन अध्यवसाय चाहिए। सर्वसाधारण के लिए विकास–उत्थान के साधन जुटाना कोई आसान कार्य नहीं हैं, फिर पतन के गर्त में द्रुतगति से गिरने वाले जनमानस को उलट देना तो और भी कठिन है। इस दुष्कर कार्य के लिये तो कोई अत्यंत प्रतिभासम्पन्न व्यक्तित्व ही चाहिये। आचार्य श्रीराम शर्मा उन्हीं में से एक हैं। वे स्वयं तो एक आदर्श नेता बनकर जिए, साथ ही उन्होंने अनेकों में इस क्षमता को जाग्रत भी किया। प्रज्ञापरिवार की संरचना, युग साहित्य की सर्जना तथा विश्वविद्यालय स्तर की प्रशिक्षण क्षमता का परिचय देने वाले, आचार्य श्रीराम शर्मा ने कोटि–कोटि मनुष्यों को प्रेरणा, प्रकाश, अभ्युदय, ज्ञान व विज्ञान से भरपूर बनाया है। इतना ही नहीं, दलदल में फँसे हुओं को उबारा और इस योग्य बनाया कि वे अन्यान्यों को भी सहारा दे सकें। ऐसे नेतृत्वकर्ता ने नेतृत्व के स्वरूप को उसी कौशल के साथ स्पष्ट किया है। नेतृत्व के आधाररूप में वे कुछ ऐसे तत्त्वों को प्राथमिकता देते हैं, जिनके माध्यम से समस्त समाज का नवोन्मेष संभव हो सके जैसे–समय की मांग के प्रति समझ, समर्थ समाधान तथा नये मूल्यों की स्थापना। इन मूल्यों की प्राप्ति हेतु आचार्य श्रीराम शर्मा ने प्रमुख सोपान बताए हैं–विवेकशीलता, प्रामाणिकता, कर्त्तव्यपरायणता एवं साहसिकता। इन आयामों के माध्यम से आचार्य जी के विचारों में वर्तमान समय के लिए एक आदर्श नेतृत्व की अवधारणा सामने आती है।

कूटशब्द : आदर्श नेतृत्व, नेता, कर्त्तव्यपरायणता, साहस एवं विवेक।

जीवन व्यक्तिगत हो अथवा सामूहिक, दोनों में नेतृत्व की हर समय आवश्यकता होती है। सामान्यतया मनुष्य अनगढ़ होता है। अस्थिर, अनिश्चित माहौल से प्रभावित वह कभी कुछ सोचता है, कभी कुछ। कभी कोई निरर्थक कार्य करता है, तो कभी प्रताड़नाएँ पाता है। उसकी अधिकांश भागदौड का न कोई प्रयोजन होता है, न कोई लाभ। मनमर्जी चलाने में ऐसे लोगों को मजा आता है। इशारे से समझाने या डराने, धमकाने पर वह मानता नहीं। उसे काबू में रखना, शिष्टाचार बरतने के लिये सहमत करना, किसी सार्थक कार्य में नियोजित करना तभी संभव होता है, जब उसके पीछे व्यवहारकुशल अध्यापक या मार्गदर्शक लगे हों, यही नेतृत्व है। समय के साथ इस धारणा में अंतर आया और इस तथ्य पर अधिक बल दिया जाने लगा कि नेता को अपने साथी सदस्यों की संवेदनाओं और समस्याओं की समझ और उनके समाधान की ललक होनी चाहिये। उसकी अधिकारसत्ता का प्रयोग अन्य सदस्यों को प्रेरित करने व उन्हें उत्साहित करने में होना चाहिये। वर्तमान में यही धारणा बलवती है कि नेतृत्व मार्गदर्शन एवं प्रेरणा देने वाले व्यवहार का नाम है।

आचार्यश्री के अनुसार वास्तविक नेतृत्व रेल इंजन जैसा होता है, जो अपने में अकूत शक्ति भरे रहता है और अपनी क्षमता के आधार पर भारी बोझ से लदे ढेरों डिब्बों को द्रुतगति से सैकड़ों–हजारों मील घसीटता चला जा सकता है (आचार्य, 1998c, पृ0 3.19)। यह शक्ति उनमें होती है जिनकी कथनी और करनी एक हो, जो प्रदिपादन करें, उसके पीछे मन, वचन और कर्म का त्रिविध समावेश हो। ऐसे ही व्यक्ति महत्त्वपूर्ण कार्य कर व करवा सकते हैं। आचार्यश्री के चिंतन एवं जीवन में नेतृत्व का दायरा किसी समाज अथवा उससे संबद्ध समस्याओं के समाधान तक सीमित न होकर विस्तृत क्षेत्र तक फैला हुआ है। उसका स्वरूप मानव समाज से बढ़कर नैतिक, आत्मिक एवं सूक्ष्म के स्तर तक भी अपनी पहुँच बनाने वाला है। इसे बहुआयामी और आध्यात्मिक नेतृत्व भी कहा जा सकता है। इस संबंध में वे नेतृत्व की दो विधाओं के बारे में बताते हैं– 'मुनि एवं ऋषि'। ये दो श्रेणियाँ अध्यात्म क्षेत्र की प्रतिभाओं में गिनी जाती रही हैं। ऋषि वह है जो तत्पश्चर्या द्वारा काया का चेतनात्मक अनुसंधान कर उन निष्कर्षों से जन समुदाय को लाभ पहुँचाते है तथा मुनिगण वे कहलाते हैं, जो चिंतन,

मनन, स्वाध्याय द्वारा जनमानस के परिष्कार में अहम भूमिका निभाते हैं। एक पवित्रता का प्रतीक है, तो दूसरा प्रखरता का। दोनों को ही तप साधना में निरत हो सूक्ष्मतम बनना पड़ता है ताकि अपना स्वरूप और विराट्–व्यापक बनाकर, स्वयं को आत्मबल सम्पन्न कर, युग चिंतन के प्रवाह को बदल सकें। 'मुनि जहाँ प्रत्यक्ष साधनों का प्रयोग करने की क्षमता रखते हैं, वहाँ ऋषियों के लिए यह अनिवार्य नहीं। वे अपने सूक्ष्म रूप में भी वातावरण को आंदोलित कर, सुसंस्कारित बनाए रख सकते हैं (आचार्य, 1993, पृ0 148)।

आदर्श नेतृत्व : अर्थ एवं स्वरूप

नेता और अभिनेता शब्द में तो मात्र 'अभि' उपसर्ग का ही अंतर है किंतु इन दोनों के अर्थ आपस में कोई साम्य नहीं रखते। अभिनेता जहाँ आर्कषण पैदा करता है वहीं नेता को अपने त्याग, पुरुषार्थ, आदर्श और साहस के बल पर जनसाधारण के अंतःकरण में इतनी गहरी जड़ें जमानी पड़ती हैं, जिनके आधार पर उनका श्रद्धा–विश्वास सदा अक्षुण्ण बना रहे और अनुकरण की, आदेश पालन की उत्कंठा स्वयमेव जाग पड़े, वह समर्थन सहयोग देने में आनाकानी न करें, अनुकरण की उत्कंठा रोक न सकें और कदम मिलाते हुए, हाथ बंटाते हुए साथ चल पड़ें (अचार्य, 1993, पृ0 17)। नेता बड़ा पुराना शब्द है। प्राचीन शास्त्र में इस उक्ति *'राजा प्रजानां स्वामी स्यात् राज्ञः'* के अनुसार पुरोहित ही राजा, तथा पुरोहित ही नेता होता था। आज तो प्रजातन्त्र में कथित नेताओं की बाढ़ आ गई है। अपनी स्वार्थ सिद्धि और यश व धन लोलुपता के कारण कोई भी अनैतिक कार्य करने से नहीं चूकता। रोज नई–नई उलझनें पैदा करता है ताकि इस माध्यम से अपना घर भर सके। अतः आज नेतृत्व व नेता की परिभाषाओं को फिर गढ़ने की, उन्हें सही रुप में स्थापित करने की महती आवश्यकता पुनः आ खड़ी हुई है। देश का तथा समाज का उत्थान नेता पर निर्भर करता है। नेता यदि पथभ्रष्ट हुआ तो देश भी पतन की ओर अग्रसर हो जाता है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये हमें अपने अतीत में पीछे लौट चलना होगा। उस समय भारतीय संस्कृति ने बहुत सोच–समझकर नेता की व्याख्या की थी, नेता का अर्थ निश्चित किया था और नेता शब्द का निर्माण किया था। आचार्य जी ने नेतृत्व के इसी प्राचीन आदर्श को अपनी नेतृत्व क्षमता का आधार बनाया है।

आचार्यश्री के शब्दों में 'नेता का अर्थ होता है– समाज का नेतृत्व करने वाला मार्गदर्शक। ऐसा मार्गदर्शक जिसे समाज की अगणित समस्याओं का भली–भाँति ज्ञान हो। न केवल ज्ञान, वरन् वह क्षमता भी हो कि उनका सम्भाव्य हल भी निकाल सके। उसके क्रियान्वयन के लिए उचित मानदण्ड स्थापित कर सके' (आचार्य,1998e, पृ0 3. 13)। समाज का नेतृत्व करने के लिए सर्वप्रथम उस समाज में रहने वालों की सहज प्रकृति से अवगत होना पड़ता है। बिना सहज प्रकृति को जाने कोई किसी को अभीष्ट दिशा में बढ़ने की प्रेरणा नहीं दे सकता क्योंकि व्यक्ति कार्यक्षेत्र का निर्धारण अपनी सहज प्रकृति से तालमेल रखने वाले सिद्धांतों के आधार पर ही कर सकता है। ऐसा होने पर व्यक्ति वह समाधान भी खोज सकता है जो उस तत्कालीन स्थिति में अपनाए जाने योग्य हो। साधारण मनोभूमि तो केवल दोषारोपण करती है, परिस्थितियों आदि के संबंध में वार्तालाप मात्र तक सीमित रहती है, किन्तु एक संवेदनशील सक्रियता ही उनके समाधान हेतु आगे बढ़ती व कदम उठाती है। नेतृत्व के बीज ऐसी ही भूमि में पुष्पित–पल्लवित हो सकते हैं। आचार्यश्री ने सदा ऐसे व्यक्तित्त्वों का ही चयन किया 'जो स्वार्थपरता में कटौती करके, अपनी भाव–संवेदनाएँ, आकांक्षाएँ एवं गतिविधियों को सृजन प्रयोजनों में समर्पित कर सकें। दूसरों को सही दिशा दिखाने, उचित मार्गदर्शन करने तथा अन्यों को प्रेरित कर सकने वाली योग्यता को धारण करना ही आदर्श नेतृत्व की माँग है उन्होंने इसे 'युग नेतृत्व' कहा है (आचार्य, 2001c, पृ0 23)। ऐसे नेतृत्व में ही वह आभा, वह क्षमता उत्पन्न होती है जो कुछ नवीन सृजन कर सके, अपने जीवन को दिशा देने के साथ ही अन्यों को भी प्रेरित कर सके। नेतृत्व के आदर्श की इस क्षमता को प्राप्त करने के लिये, नेता में कुछ विशेषताओं का होना अनिवार्य है, इसकी विकासविधि आचार्यश्री ने चार आयामों के माध्यम से स्पष्ट की है– विवेकशीलता, प्रमाणिकता, कर्त्तव्यपरायणता एवं साहसिकता।

विवेकशीलता

मनुष्य के भीतर सकारात्मक और नकारात्मक दोनों प्रकार के प्रबल संस्कार मौजूद हैं। परिस्थितियाँ भी ऐसी हैं जो दोनों रूप धारण करती रहती हैं। ये दोनों तत्व एक दूसरे से प्रतिकूल प्रकृति के होने से परस्पर लड़ते भी रहते हैं और एक दूसरे को परास्त करने का प्रयत्न भी करते हैं। यह व्यक्ति के विवेक पर निर्भर है कि वह किसे व कैसे चुने। व्यक्ति की विवेकपूर्ण मनोभूमि ही सही और गलत का ठीक–ठीक आंकलन कर सकती है, अन्यथा बुद्धि और मन तो छलावा भी कर सकते हैं और स्वार्थी भी हो सकते हैं। अन्तःकरण में रहने वाली शुभ और अशुभ प्रवृत्तियों में से जिसे भी अपने अनुकूल वातावरण मिल जाता है, वही पनपने और बढ़ने लगती है, जिसे पोषण नहीं मिलता वह सूख जाती है (आचार्य, 1998a, पृ0 5.22)। यह व्यक्ति के विवेक

पर निर्भर है कि वह किस पक्ष में अपना कदम उठाता है और किसे नकार कर देता है।

समाज का मस्तिष्क कहे जाने वाले व्यक्ति, बुद्धिजीवी जनसमाज को जिस प्रकार का मार्गदर्शन देते हैं, लोकजीवन वैसी ही धारा अपनाता है (आचार्य, 1998a, पृ0 5. 22)। नेता की विवेकपूर्ण समझ जो भी तथ्य उद्घाटित करेगी उसका ही अनुसरण अन्य अनुयायी करते हैं। अतः नेता का विवेकपूर्ण होना अत्यंत आवश्यक है। इसे नेतृत्व का प्रथम चरण कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

जन साधारण उन्हीं बातों को मानते और अपनाते हैं, जो उनकी समझ में आ जाती हैं। प्रत्येक बात को समझने और उसकी तह में जाकर वस्तुस्थिति का विश्लेषण करने की सामर्थ्य भीड़ में नहीं होती। यह कार्य नेता का होता है कि वह परिस्थितियों का सही–सही आंकलन करे, उन्हें सकारात्मक दिशा देने के लिये योजनाएँ तैयार करे और इनकी क्रियान्विति के लिये, साथी–सहयोगियों को प्रेरित करे। यह कार्य विवेकसम्मत अंतःप्रज्ञा ही कर सकती है। प्राचीनकाल में तो बुद्धिजीवियों का एक वर्ग विशेष ही बना हुआ था, जिसका समाज में सर्वोपरि स्थान था। समाज को एक शरीर की उपमा देते हुए उसका सिर ब्राह्मण को बताया गया है, जो सोचता–विचारता है तथा शरीर के अंग–प्रत्यंगों की गतिविधियों का संचालन और नियंत्रण करता है। ब्राह्मण तब जन्म से पैदा होने वाले वंश परम्परा के व्यक्ति का नाम नहीं था, यह पदवी तो हर उस व्यक्ति को मिल जाती थी, जो समाज का मार्गदर्शन करने की क्षमता से सम्पन्न होता था।

संसार में आज जितने भी उन्नत और विवेकशील देश हैं अथवा जितनी भी महान् क्रान्तियाँ हुई हैं, बड़े परिवर्तन घटित हुए हैं, उन सब के पीछे विवेकशील व्यक्तियों की मनीषा ने ही कार्य किया है। आचार्यश्री (आचार्य, 1998c, पृ0 4.65) के शब्दों में 'समाज का वैचारिक दिशा निर्देश करने वाले व्यक्ति को चाहे ब्राह्मण कह लें, चाहे विचारक, चाहे बुद्धिजीवी कह लें, चाहे प्रबुद्ध व्यक्ति; समाज को ऊँचा उठाने का श्रेय उन्हीं को जाता है। वे महान कार्य तभी सम्पन्न कर पाते हैं जब अपने निजी स्वार्थों से ऊपर उठकर अपनी सोच के दायरे का विस्तार करते हैं और मनोभूमि को श्रेष्ठ विचार व कार्य के योग्य बनाते हैं।

आचार्यश्री ने स्वयं समाज का विवेकशील मार्गदर्शन किया। जब वे किशोरवय में थे तब समाज में जातिप्रथा, रुढ़ियाँ, संकीर्णताएँ अपने चरम पर थीं। चूँकि उन्होंने ब्राह्मण कुल में जन्म लिया था, अतः उन्हें भी ऐसी ही बेड़ियों में जकड़ा गया था, किंतु उन्होंने इनका विरोध किया। इसके लिये उन्हें परिवार व समाज का तिरस्कार व विरोध भी सहना पड़ा किंतु यह विरोध उन्हें अपने कर्त्तव्य पथ से तनिक भी विचलित नहीं कर पाया, अपितु एक अनकही जागृति का ही परिचायक बना जो विवेकशीलता पर आधारित थी। जब समय ने आचार्यश्री के कार्यक्षेत्र का विस्तार किया तो उन्होंने महिलाओं के सम्बन्ध में सभी रुढ़िवादी मान्यताओं का खुलकर विरोध किया। दहेज प्रथा, पर्दा प्रथा को नकारा तथा विधवा विवाह, महिला शिक्षा, स्वावलम्बन आदि पर बल दिया। यज्ञ आदि कर्मकाण्ड, गायत्री जप, जो कथित कुलीन वर्ग के एकाधिकार में थे, उन्हें जनसुलभ बनाकर भारतीय समाज में महान् क्रान्ति की और इन प्रयासों का विस्तार कर अपने नेतृत्व में युग निर्माण सेना व संगठन का गठन किया। उन्होंने 18 सत्संकल्पों में से एक संकल्प 'परम्पराओं की तुलना में विवेक को महत्त्व देंगे' का भी उद्घोष किया व करवाया।

यह विवेकशीलता ही अपने मौलिक चिंतन व शैली में 'प्रज्ञा' हैं। 'प्रज्ञा' अर्थात बुद्धि की उत्कृष्टतम् स्थिति परिमार्जित बुद्धि के आधार पर प्राप्त दिव्य बुद्धि ही प्रज्ञा है (श्रीमाली, 2001, पृ0 5)। उसकी प्रमुख विशेषता है कि वह स्वार्थ, शरीरगत सुविधाओं के उपभोग से परे, जनहित व परमार्थ के मार्ग का चयन करती हैं। प्रज्ञा नीर–क्षीर विवेक का उपक्रम आरम्भ करती है, साथ ही इतना साहस भी प्रदान करती है कि व्यक्ति उत्कृष्टता के उच्च शिखर पर अकेला चलने का बल और साहस प्रदान कर सके। सारी दुनिया के एक ओर होने पर भी प्रज्ञावान् अपना मार्ग बना सकता है और बिना किसी समर्थन की आशा किये उस मार्ग पर चल भी सकता है। प्रज्ञा के अभाव में मनुष्य के पास मन और बुद्धि ही शेष रह जाते हैं, जिन पर सामने प्रस्तुत परिदृश्य ही प्रतिबिम्बित होते हैं। प्रज्ञा ही है जो सत्य को देख व तथ्य को स्वीकार करने में समर्थ है। वर्तमान के सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन में ऐसे ही प्रज्ञावान नेतृत्व की आवश्यकता है। विवेकशीलता से सुसम्पन्न नेतृत्व ही व्यक्ति, समाज व राष्ट्र को दूरदर्शिता के आधार पर उचित मार्गदर्शन देने में सक्षम होता है।

प्रामाणिकता

इक्कीसवीं सदी की परिस्थितियों का यदि आँकलन किया जाए, तो स्पष्ट होगा कि मानव समाज की शक्ति व सामर्थ्य हर क्षेत्र में बिखरी पड़ी है। ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जो 'श्रेष्ठ कार्य' करना चाहते हैं किंतु संगठन व सहयोग के अभाव में कर नहीं पाते, एकाकी रह जाते हैं। वहीं शराबी, जुआरी, व्यभिचारी आदि समूहबद्ध होकर कुकृत्य करते व अपना दबदबा कायम करते चले जा रहे हैं। ऐसा इसलिये है कि एक नकारात्मक धारा का व्यक्ति स्वयं वही कार्य करता है,

इसलिये अपनी प्रकृति के दूसरे व्यक्ति को भी आकर्षित करता है, वहीं समाज के कथित नेता भाषण देते व बड़ी–बड़ी लच्छेदार, व्यंजनाएँ अभिव्यक्त करते हैं और अपने समूह में चापलूसों, धूर्तों के अतिरिक्त किसी को संगठित नहीं कर पाते। कहना यह है कि 'नेतृत्व की वास्तविक शक्ति उनमें होती है, जिनकी कथनी व करनी एक हो, वे जो भी प्रतिपादित करें उसके पीछे मन–वचन और कर्म का त्रिविध समावेश हो' (आचार्य, 1998c, पृ0 3.18)।

आचार्यश्री ने प्रामाणिकता को नेतृत्व का दूसरा महत्त्वपूर्ण आयाम बताया है। प्रामाणिकता के सहारे ही कोई व्यक्ति ईमानदार व विश्वासी बन सकता है। 'जिनकी प्रतिष्ठा एवं गरिमा अंत तक अक्षुण्ण बनी रही है, उनमें से प्रत्येक को इस नैतिक ईमानदारी की रीति–नीति ही सच्चे मन से अपनानी पड़ी है (आचार्य, 1998b, पृ0 3.8)। प्रामाणिक व्यक्तित्व ही लोक आस्था को दृढ़ एवं दीर्घजीवी बना सकते हैं (पण्ड्या, 1980, पृ0 5)। एक नेता चाहे कितना ही वार्तालाप करता रहे, अपने सहयोगियों पर प्रभाव जमाने का प्रयास करता रहे, किंतु व्यक्तित्व की श्रेष्ठता, चरित्र ही है। उदात्तता और भीतरी पवित्रता के अभाव में चरित्र स्वतः ही अपना प्रभाव खो देता है। नेता जो भी कार्य करे उसमें सच्चाई की पर्याप्त मात्रा होनी चाहिये। उसे अपना विकास इतना प्रखर और उच्च करना चाहिये कि उसकी वाणी से भी अधिक उसके कर्म प्रेरक बनें (पण्ड्या, 2003, पृ0 45)। जो अपने गुण, कर्म, स्वभाव को सुनियोजित, सुसंस्कृत बना लेता है, उसके लिये आत्मसन्तोष, लोक सम्मान और दैवीय अनुग्रह तीनों ही सुरक्षित रहते और दिन–दिन समुन्नत होते जाते हैं (आचार्य, 2001a, पृ0 27)। अतः नेता को चाहिये कि वह ब्राह्मणों जैसी संयमशीलता और साधु जैसी प्रामाणिकता का परिचय दे। जो इस संबन्ध में जितनी ऊँची कक्षा उत्तीर्ण करते हैं, वे उतने ही सफल होते हैं। प्रामाणिकता नेतृत्वशीलता का अनिवार्य गुण और आदर्शवादिता का आधार है।

कर्त्तव्यपरायणता

व्यक्ति के कर्त्तव्यों का दायरा अत्यंत विस्तृत है, उसमें स्वयं का परिवार, समाज, राष्ट्र सभी आ जाते हैं। सभी चाहते हैं कि परिस्थितियाँ बदलें, चारों ओर स्नेह सौजन्य व्याप्त हो और जीवन श्रेष्ठ बने, किंतु इन कार्यों को करने के लिये आगे नहीं आते। वे अपने व अपने परिवार के दायरे से बाहर ही निकलना नहीं चाहते। उनके कर्त्तव्य की सीमाएँ संकुचित व दायरा सीमित है। एक आदर्श नेता ऐसा नहीं होता। उसकी यह स्वाभाविक विशेषता होती है कि वह अपने मनुष्य होने के कर्त्तव्य का निर्वाह करता है। उसका समय व श्रम जनकल्याण के लिये निरत रहता है। आचार्यश्री ने कर्त्तव्यपरायणता को नेतृत्व के तृतीय सोपान के अंतर्गत रखा है। वे कहते हैं– जब व्यक्ति सामाजिक जीवन में सक्रिय रूप से भाग लेने लगता है और अपने सामाजिक दायित्त्व का निर्वाह करता है तब उसकी सामाजिक अभिरुचियों का समुचित विकास होता है। उसमें सामाजिक भावना पैदा होती है, वह अपने साथियों के प्रति सहानुभूति रखता है और उसकी सामाजिक चेतना जागृत हो जाती है (आचार्य, 1998a, पृ0 14.27)। यह जागृति नेतृत्व क्षमता का परिचायक भी है और नेता की एक विभूति भी; क्योंकि सामाजिक अभिरुचियों को सक्रिय बनाने के लिये यह आवश्यक है कि व्यक्ति सामाजिक जीवन में भाग ले और यथाशक्ति कार्य में लगा रहे। ऐसा होने पर ही वह नेता कहलाने योग्य हो सकता है।

भारतीय नेतृत्व शैली के अनुसार एक नेता को पिता की संज्ञा दी गई है। मनुस्मृति में कहा है–'*स्याच्चाम्नायापरो लोको वर्तते पितृवन्नृषु*' अर्थात् एक नेता पिता के समान होता है (मनुस्मृति, 7/80)। वहीं कौटिल्य अर्थशास्त्र का वचन है कि 'राजा को ब्राह्मण (विद्वान व्यक्ति) की भाँति, पिता के रूप में प्रजा को संरक्षण देना चाहिये (कौटिल्य अर्थशास्त्र, 43)। इसका अर्थ है अपने कर्त्तव्य का प्राणपण से निर्वाह करना, एक पिता की भाँति अपने निजी स्वार्थों का त्याग करना। जो ऐसा नहीं कर पाते उन्हें तो महाभारत में मारने तक की सलाह दी गई है। मनुस्मृति भी कहती है "जो राजा पथभ्रष्ट होकर अपनी प्रजा को भूखों मारता है, उसे अपने संबन्धियों के साथ जल्दी ही राज्य और अपने जीवन का त्याग कर देना चाहिये'' (मनुस्मृति, 7/11)। इसी कर्त्तव्य का बोध आदर्श नेतृत्व की पहचान है।

आचार्यश्री ने बार–बार उन व्यक्तियों का आह्वान किया है जो समय की विभीषिकाओं को महसूस कर सकते हैं और जिनके अंतःकरण दूसरों की पीड़ा देखकर व्याकुल हो जाते हैं। उन्होंने अपनी वाणी व साहित्य दोनों के माध्यम से उन आत्माओं को गुहार लगाई है, जो वर्तमान के 'आपात धर्म' का निर्वाह कर सकें, इस समय अपने कर्त्तव्य का पालन कर सकें। उनकी साधना भी इसी प्रयास में नियोजित रही कि वह ऐसे नायक तैयार कर सकें, जो अपने कर्त्तव्य के प्रति सजग हों। अपनी साधना के बल पर उनका उद्घोष है कि ''इन दिनों एक प्रचण्ड शक्तिशाली ज्वाजल्यमान तारक प्रकट हो रहा है, जिसकी लपलपाती लपटें संसार भर के जीवंत और संवेदनशील मनुष्यों को झकझोर कर खड़ा करेंगी और कार्यक्षेत्र में उतरने के लिये बाध्य करेंगी (आचार्य, 2001b, पृ0 26)। इस कर्त्तव्यबोध की परिणति

परिवर्तित सृष्टि के रुप में दिखाई देगी, ऐसा आचार्यश्री का प्रबल विश्वास है। नेतृत्वशीलों को उनके कर्त्तव्य को बोध कराते हुए वे अधिकारपूर्वक कहते हैं– 'प्रबुद्ध आत्माओं को सामान्य स्तर का जीवन नहीं जीना है। कुछ अतिरिक्त कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व उनके कंधे पर है, जिनकी यदि उपेक्षा की जाती रही, तो आत्मप्रताड़ना की इतनी अधिक वेदना उनके अंतरंग में उठती रहेगी कि, आत्मग्लानि का कष्ट उन्हें शारीरिक विषम वेदनाओं से भी अधिक भारी पड़ेगा और उसे सहन करना कठिन हो जाएगा। धन, स्वास्थ्य, यश, पद आदि की क्षति आसानी से पूरी हो सकती है, पर कर्त्तव्य की उपेक्षा करने पर जो पश्चाताप होता है, उसकी व्यथा सहन करना दुष्कर है (पण्ड्या, 1989, पृ0 63)।

जिस नेता को पल–प्रतिपल अपने कर्त्तव्यों का बोध रहता है, वह कभी पथभ्रष्ट नहीं होता। उसके कदम तब तक विराम नहीं लेते, जब तक कि वह अभीष्ट लक्ष्य तक कहीं पहुँच नहीं जाए। उसे अपनी जिम्मेदारियों का बोध इस सीमा तक रहता है कि उसके समक्ष समस्त स्वार्थ, सुख और व्यक्तिगत कामनाएँ गौण हो जाते हैं। उसके इस बोध के दायरे में अपना परिवार या संगठन ही नहीं आते, वरन् समस्त चराचर जगत् के प्रति उसकी भावनाएँ विस्तार पाती हैं। प्रत्येक की व्यथा उसके भीतर टीस उत्पन्न करती है, पीड़ित के आँसू उसकी आँखें नम करते हैं, मानवता की करुण गूँज उसके कानों से टकराती है, असहाय की कराह उसके भीतर की हूक बनती है और वह मचल उठता है उस राह की ओर बढ़ने को जो उसे समाधान दे व सक्रिय बनाए। जिसके अंतराल में संत जाग पड़ता है, वह एक ही बात सोचता है कि समय, श्रम, मनोयोग की जो प्रखरता, प्रतिभा हस्तगत हुई है, उसका उपयोग कहाँ किया जाए (आचार्य, 1993, पृ0 123)?

आचार्यश्री ने जीवन भर अपने उत्तरदायित्वों का प्राण–पण से निर्वाह किया। प्रत्येक क्षेत्र में वे इस दृष्टि से अग्रणी रहे। इस बात की साक्षी उनकी शिष्या व सहधर्मिणी माता भगवती देवी का कथन है, "गुरुदेव का जीवन, आध्यात्मिकता और कर्त्तव्यपरायणता का एक समग्र एवं व्यावहारिक दर्शन है (आचार्य, 1971, पृ0 57)। हिमालय की ऋषि सत्ताओं की वेदना को मिटाने का निश्चय जिस पल आचार्यश्री ने किया व उन ऋषि सत्ताओं के आदेशानुसार कार्य करने का वचन दिया तभी से वे इस मार्ग पर डटे रहे। अपनी सम्पदाओं 1. शारीरिक श्रम, 2. मानसिक क्षमता, 3. भाव संवेदनाएँ, 4. पूर्वजों का उपार्जित धन (आचार्य, 1993, पृ0 117) यह सबकुछ उन्होंने आदर्श नेतृत्व के कर्त्तव्य पथ हेतु न्यौछावर कर दिया। उन्हीं के शब्दों में 'बुद्धि दिन भर जागने में ही नहीं रात्रि के सपने में भी लोक मंगल की विधाएँ विनिर्मित करने में लगी रही। अपने पास जो कुछ था, उसी विराट ब्रह्म को, विश्व मानव को सौंप दिया' (आचार्य, 1993, पृ0 117)। इस समर्पण की परिणति रूप में ही अखिल विश्व गायत्री परिवार जैसा विशाल संगठन एवं अगणित व्यक्तियों का समर्थन सहयोग उन्हें मिला। आचार्यश्री के जीवन में कर्त्तव्यों की अवहेलना और नैतिक मर्यादाओं के उल्लंघन का कोई ऐसा अवसर नहीं आया जिसे छिपाने की उन्हें आवश्यकता पड़े। उनका व्यक्तित्व कर्त्तव्यपरायणता का आदर्श बनकर प्रकट हुआ है।

साहसिकता

नेतृत्व एक ऐसी जिम्मेदारी है जिससे जुड़े प्रत्येक व्यक्ति को अपने समय के पिछड़ेपन को दूर करने के लिये कुछ न कुछ कार्य व्यक्तिगत या सामूहिक रुप से निरंतर करना होता है। समय की विपन्नता से संघर्ष करने का जो निश्चय करते हैं, उनका व्यक्तित्व और कर्तृत्त्व ऐसा मजबूत होना चाहिये जो स्वयं तो अड़िग रहे ही, साथ ही प्रतिकूलताओं से युद्ध करते हुए उन्हें परास्त कर सकने की भूमिका भी निभा सके। जिसने ऐसा साहसबल प्राप्त कर लिया, उसने मानो नेतृत्व को धन्य कर दिया। इस गुण को अपनाने पर नेतृत्व के शेष कौशल तो स्वतः ही नेता के अनुगामी बन जाते हैं; अतः आचार्यश्री ने साहसिकता को आदर्श नेतृत्व की कसौटी माना है।

साहस है– जोखिम उठाते हुए भी उस मार्ग पर चल पड़ना जो, नीति–निष्ठा के साथ अविच्छिन्न रुप से जुड़ा हुआ है (आचार्य, 2002, पृ0 21)। ऊँचे उद्देश्यों के लिये जब भी साहस उभरता है, तब उसके पीछे साधनों की कमी होते हुए भी साहस का एक प्रचण्ड प्रवाह उभरता है, जिसके सहारे पराजय, विजय में बदल जाती है (आचार्य, 2001a, पृ0 17)। साधारण से दिखने वाले गाँधीजी ने बलिष्ठ अंग्रजों को हिला देने वाली ललकार दी, शास्त्री जी और डा0 राजेन्द्र प्रसाद का नेतृत्व आज भी अनुकरणीय व अभिनन्दनीय है। साधन रहित चाणक्य और चन्द्रगुप्त साहस के ही बल पर 'अखण्ड भारत' का स्वप्न पूरा कर पाए। कठिनाईयों से पार पाने और प्रगति पथ पर आगे बढ़ने के लिये साहस ही एक मात्र ऐसा साथी है, जिसको साथ लेकर मनुष्य एकाकी भी दुर्लभ प्रतीत होने वाले पथ पर चल पड़ने एवं लक्ष्य तक जा पहुँचने में समर्थ हो सकता है (आचार्य, 1998b, पृ0 3.9)। ऐसा इसलिये संभव हो पाता है; क्योंकि आत्मबल स्वयं में इतनी सामर्थ्य रखता है कि अन्य सरंजाम स्वयमेव जुटते चले जाते हैं।

ईश्वर ने मनुष्य को इतना कमजोर नहीं बनाया कि उसे दीन–हीन बनकर जीना पड़े। मार्ग उन्हीं का अवरुद्ध होता है, जो अपने पर भरोसा नहीं करते। आत्मबल की कमी, कल्पित भय तथा भविष्य के प्रति निराशा, ये तीनों ही स्थितियाँ ऐसी हैं, जो व्यक्ति के संकल्पबल को क्षति पहुँचाती हैं (पण्ड्या, 1997, पृ0 1)। कितने ही व्यक्ति आत्महीनता की ग्रन्थि से ग्रसित होकर अपने आपको गया गुज़रा मानते हैं। बहादुरी इसी में है कि अल्प साधन होते हुए भी अपनी लगन, हिम्मत और मेहनत के बलबूते ऐसे कार्य करने चाहिये, जो श्रेष्ठ परिणाम देने वाले हों। एक आदर्श नेता की कार्यशैली में यही विशेषता पाई जाती है।

साहस का अर्थ युद्ध करना, अनर्गल प्रलाप करना, हुंकार भरना नहीं, अपितु उस स्थिरता व शांति का वरण करना है जो किसी भी स्थिति में विचलित न हो। सफलता ऐसी साहसिकता के आधार पर ही मिलती है। कहने को तो चोर–डाकुओं व आतंकवादियों में भी यह गुण होता है, किंतु गहराई से देखने पर स्पष्ट होगा कि सभी विपरीत, विकृत कृत्यों के पीछे घोर कायरता, घोर अविश्वास व अनास्था ही है। साहसिकता तो एक आध्यात्मिक गुण है। इसी आधार पर योगी को सफलता मिलती है, और महापुरुष को भी क्योंकि सबसे बड़ा साहस तो स्वयं पर, स्वयं की विकृतियों पर विजय पाना ही है (आचार्य, 1998d, पृ0 3.22)। साहस उन्हीं के भीतर पैदा होता है जो आत्मबल के धनी हैं।

आचार्य जी की नेतृत्व कुशलता का आधार उनकी विचारधारा एवं ऋषि तुल्य जीवन है। उनके विचारों की मौलिकता में जिस आदर्श नेतृत्व की अवधारणा सामने आती है उसमें व्यक्तिगत, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन के उच्चतम जीवन मूल्यों का समावेश है। विवेकशीलता, कर्त्तव्यनिष्ठा, ईमानदारी, साहस एवं प्रेम जैसे मूल्य ही आदर्श नेतृत्व की पहचान हैं और व्यक्ति एवं समाज में इनकी सदैव आवश्यकता है।

निष्कर्ष :

आदर्श नेतृत्व का अर्थ है– वह वर्चस्व जिसके सहारे जनसामान्य को अपना उदाहरण प्रस्तुत कर सन्मार्गगामी बनाया जा सकें, उनकी क्रियाओं को श्रेष्ठता की ओर नियोजित किया जा सके। ईश्वर ने प्रत्येक व्यक्ति को क्षमतासम्पन्न, गुणवान बनाया है। उसे वे सभी विशेषताएँ प्रदान की गईं हैं जो न केवल उसे अपितु उससे जुड़े समस्त परिवेश को समुन्नत बना सकती हैं। आचार्य श्रीराम शर्मा के अनुसार यह पूरी तरह व्यक्ति पर निर्भर करता है कि वह उसका सदुपयोग करता है या फिर विस्मृत एवं उपेक्षित कर उनसे रहित जीवन जीता है। नेता को अपने त्याग, पुरुषार्थ, आदर्श और साहस के बल पर जनसाधारण के अंतःकरण में इतनी गहरी जड़ें जमानी पड़ती हैं, जिनके आधार पर उनका श्रद्धा विश्वास सदा बना रहे। नेतृत्व की ऐसी विशेषता उसी व्यक्तित्व में देखी जा सकती है जिसमें विवेकशीलता, चरित्र–आचरण की प्रामाणिकता, साहस और कर्त्तव्यबोध की भावना प्रबल है। आचार्य जी के अनुसाार आदर्श नेतृत्व का यही मानदण्ड है।

कृष्णा झरे, पी–एच0 डी0, असोसिएट प्रोफेसर; **मेघा पाल,** पी–एच0 डी0, असिस्टेन्ट प्रोफेसर, प्राच्य अध्ययन विभाग, देव संस्कृति विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखण्ड), भारत।

संदर्भ सूची

आचार्य, श्रीराम शर्मा (2002). *जीवन साधना के स्वर्णिम सूत्र (द्वितीय संस्करण, पृ0 21)* / मथुरा– युग निर्माण योजना, गायत्री तपोभूमि।

आचार्य, श्रीराम शर्मा (2001a). *सृष्टा का परम प्रसाद–प्रखर प्रज्ञा (प्रथम संस्करण, पृ0 17, 27)* / हरिद्वार–युग चेतना प्रकाशन, शान्तिकुन्ज।

आचार्य, श्रीराम शर्मा (2001b). *समस्याएँ आज की समाधान कल के (पृ0 26)* / हरिद्वार– श्री वेद माता गायत्री ट्रस्ट।

आचार्य, श्रीराम शर्मा (2001c). *युग की मांग प्रतिभा परिष्कार (भाग–1, पृ0 23)* / मथुरा– युग निर्माण योजना, गायत्री तपोभूमि।

आचार्य, श्रीराम शर्मा (1998a). *अपरिमित संभावनाओं का आगार मानवी व्यक्तित्व (वाङ्मय, खण्ड–21, पृ0 5.22, 14.27)* / मथुरा– अखण्ड ज्योति संस्थान।

आचार्य, श्रीराम शर्मा (1998b). *जीवन देवता की साधना आराधना (वाङ्मय, खण्ड–2, पृ0 3.8, 3.9)* / मथुरा– अखण्ड ज्योति संस्थान।

आचार्य, श्रीराम शर्मा (1998c). *भव्य समाज का अभिनव निर्माण (वाङ्मय, खण्ड–46, पृ0 4.65)* / मथुरा– अखण्ड ज्योति संस्थान।

आचार्य, श्रीराम शर्मा (1998d). *मनस्विता प्रखरता और तेजस्विता (वाङ्मय, खण्ड–57, पृ0 3.22)* / मथुरा– अखण्ड ज्योति संस्थान।

आचार्य, श्रीराम शर्मा (1998e). *राष्ट्र समर्थ सशक्त कैसे बनें? (वाङ्मय, खण्ड–64, पृ0 3.19, 3.13, 3.18)* / मथुरा, भारत :अखण्ड ज्योति संस्थान।

आचार्य, श्रीराम शर्मा (1993). *हमारी वसीयत और विरासत (संस्करण–17, पृ0 117, 123, 148)* / मथुरा– युग निर्माण योजना, गायत्री तपोभूमि।

आचार्य, श्रीराम शर्मा (1971, अगस्त). अपनों से अपनी बात। *अखण्ड ज्योति, 8,* 57.

कौटिल्य अर्थशास्त्र–43

पण्ड्या, प्रणव (2003, मार्च). ऊर्जा तरंगों के महासागर में रह रहे हम सब। *अखण्ड ज्योति, 3,* 45.

पण्ड्या, प्रणव (1989, नवम्बर). अपनों से अपनी बात। *अखण्ड ज्योति,11,* 63.

पण्ड्या, प्रणव (1997, जनवरी). आइये हम बल की उपासना करें। *अखण्ड ज्योति, 1,* 1.

पण्ड्या, प्रणव (1980, अगस्त). श्रद्धा : अतः जीवन की एक प्रबल शक्ति। *अखण्ड ज्योति, 8,* 5.

***मनुस्मृति,* 7 / 80; 7 / 11**

श्रीमाली, मन्दाकिनी (2001). *प्रज्ञा पुरुष का समग्र दर्शन (पृ05)* / मथुरा– अखण्ड ज्योति संस्थान।